International Journal of Applied Research 2016; 2(6): 176-177

International Journal of Applied Research

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2016; 2(6): 176-177
www.allresearchjournal.com
Received: 25-04-2016
Accepted: 26-05-2016

मांगे राम
गांव बालासर, तहसील रानिया,
जिला–सिरसा।

Correspondence
मांगे राम
गांव बालासर, तहसील रानिया,
जिला–सिरसा।

शालीग्राम कृत 'कित आऊ कित जाऊ' उपन्यास में नारी मुक्ति

मांगे राम

प्रस्तावना

उपन्यासकार शालीग्राम भारतीय स्त्री को अपने ही भीतरी संस्कारों और भावुक दुर्बलताओं से बहुत तकलीफदेह मानसिक लड़ाई को मूर्त करते हैं और इस लड़ाई के माध्यम से भारतीय नारी के स्वातंत्र्य–बोध की सीमाओं का बोध कराते हैं। यह सीमाएं निःसंदेह अपनी ही बनाई हुई हैं। लेकिन यह भी सच है कि इस सीमा बोध की जड़े भारतीय परिवेष में और भारतीय जीवन व्यवस्था में है जिसमें सांस्कृति मुक्ति की संभावनाएं बहुत कम हैं। संस्कृति से अलग एक व्यक्ति रूप में बहुत कम स्वीकार किया जाता है–

नारी की स्थिति का उदाहरण देखिए–

''बस, इसीलिए कि उसने आपको चुनौटी नहीं दी। यही उसका कसूर हुआ ?...छिः–छिः क्या गलत समझ है आपकी।...आपने तो पूरी औरत जाति को गोबरगढ़ा में गिरा दिया और ऊपर से उनकी नाक नहीं रहने की बात कहते हैं। हे भगवान! यह भी कोई न्याय हुआ. . .अपने पच्छ की बात। नाक तो हमारी–आपकी कटी हुई है कि जहाँ–तहाँ हम दुर्गन्ध को सुँघते हुए उसे सुगन्ध कह बैठते हैं। यह हवस हम सबों को हब्शी बनाए हुए हैं। मैं अधिक क्या उधार करूँ मर्दों की चाल!. . .वह अपनी बिगड़ी बनाने औरत के चेहरे पर घूँघट डलवाए रखते हैं ताकि औरत हमारे कुकर्म को देख नहीं पाए. . .हा–हा–हा–हा बात सही है न साहुजी! हम मर्दों को चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए कि हम औरत की निन्दा करते हैं। औरत घर की लछमी हैं। बिना औरत का मर्द, बगैर लंगर की नैया है, वह भसते–भसते कहाँ से कहाँ न चला जाए. . .इसका क्या पता ? औरत हमारी इज्जत है। [1]

उसे निभाने के विरुद्ध जाते ही व्यवस्था और समाज के तेवर बदल जाते हैं। दूसरे शब्दों में हिप्पोक्रेसी पाखंड और ढोंग आम जन की चेतना के स्तर पर बार–बार हॉट करती है और उससे मुक्ति पाने की बेचैनी और विकलता को आम नारी पात्र भोगते हैं–''जीई! मेरी ससुराल राजनपुर रही और नैहर यही हरिलपुर। अपने बाबा की मैं अकेली बेटी हुई, उनकी पूरी जायदाद की हकदारिन। लेकिन फरीकेन दीगर ने सबों पर धावा बोलकर मेरी सम्पत्ति हड़प ली। केवल पाँच बीघे जमीन बकाश्त वाली जो मेरी इस पोती कृष्णा के नाम पहले से चढ़ी थी, उसकी आप खानापूरी–तसदीक कर दीजिए।'' ''तो आप राजनपुर नहीं रहती हैं क्या ?'' ''राजनपुर में क्या करूँगी हाकिम! मेरे पति दो भाई रहे। छोटे मेरे देवर गरजसिंह गरजू को उन्होंने राजनपुर की सारी जायदाद दे दी। अपने लिए उन्होंने कुछ नहीं छोड़ी। भाई को सदैव अपना बेटा जैसा समझते रहे। वे खुद फौज में थे, बड़े बहादुर...लड़ाकु। साठ के दशक में वे चीन–भारत युद्ध में देश के काम आ गए। तभी से मैंने अपना नैहर अगोर लिया। मेरा इकलौता बेटा तथा पुतोहू दोनों मुझे छोड़ इस दुनिया से चले गए। [2]

जीवन सुख–दुःख पर क्रेन्दित रहता है। आलोच्य उपन्यास में एक ओर घनीभूत पीड़ा है तो दूसरी ओर वैराग्य भाव भी। कितना घना मानसिक संत्रास है। आम जन की सारी सफरिंग का पूरा चित्र उभारता हुआ उस व्यवस्था के व्यवस्थापकों की अमानवीयता और क्रूर मानसिकता का, भयावह बोध से प्रेम की सहमी हुई शब्दावली में चित्रण करता है और एक खौफ के अनुभव में मुक्ति की बेचैनी को ध्वनित करता है 'गाँव में नए–नए महाजनों की बाढ़ आ गई है। इस बार मकई ने अपनी बेमिसाल उपज दी है – भूफोड़ फसल...अन्न ही अन्न। खाद–पानी के साथ–साथ मौसमी प्रभाव भी अनुकूल रहा और किसानों के लिए भाव भी उपयुक्त। ऐसा रूतबा रहा तो अगले साल से यहाँ के सारे लोग खेती करने पिल पड़ेंगे। क्या जरूरत है नौकरी–चाकरी करने की, जहाँ सीमा में बँधा काम तथा सीमा में बँधी तनख्वाह हो। यहाँ तो अपने मन का काम है, 'अधिक काम अधिक दाम : मन भाए तो करो आराम'. . .खुला आकाश, खुली हवा, खुला पानी, खुली माटी के बीच खुले हुए लोग हैं– सभी आमने–सामने बने हुए. . .देख लो बाहर से अन्दर तक, कोई दुराव–छिपाव नहीं। ऐसा आनन्द और ऐसी पहचान आखिर कहाँ मिले ? जहाँ एक–दूसरे की झलक बनी रहती है।

इस बार खेती करने के अलावा कुछ लोग इसकी उपज से खरीद–बिक्री का अतिरिक्त मुनाफा कमाने में लग गए हैं। यानी खेतिहर बने महाजन! टममन साहु, घोलट झा और तीरो सिहं जैसे लोग लेन–देन की दुनिया में कूद पड़े हैं। [3]
सच असल में यह था कि निरपत भय और पराजय के उस ठंडे माहौल से वह बचना चाहता था अच्छा होगा उसे भी राग–विराग से जुड़ी घटनाएं दुखद सत्य को तेजी से उभारती हुई प्रतीत होती है कि यहां विद्रोह का मतलब है– अपनी ही आग में झुलस जाना। कई दुश्मनों की तेज तर्रार, गुर्राती आंखों के सामने अपने को जिबह होते महसूस करना और अंततः खामोशी से उसी विसंगति की जमीन पर जीने पर विवश हो जाना था। वह भी आखिर क्रोध और उत्तेजना से जल उठा। लेकिन उन सबकी खूंखार आंखों का एहसास होते ही वह आतंकित हो उठा। कवि उस व्यवस्था पर छिपी हुई चोट करता है, जिसमें आम जन आत्मविश्वास को खोने के लिए विवश है–...आ–हा–हा–हा पूरी काया मकई के रंग में रँग गई है महाजन की, चलते–फिरते, उठते–बैठते बस मकेष्वरनाथ महादेव का गुणगान...जय हो! मकैया महाराज! दिल रँगा यहाँ तो दिन ढला वहाँ...किसी का डूबना तो किसी का उगना होता है। अब तो अपना राज हुआ–अपना खेत, अपनी उपज और अपनी मकई! ठसकी बाली भंमोरकर खाइए, लाबा फाँकते रहिए, सत्तू घोलकर पीजिए और रोटी के साथ प्याज, नमक गपागप।. . .प्रकार ही प्रकार! दूध में सना कर तो यह शीतल प्रसाद बन जाती है–स्वाद और सेहत एक साथ। मकई का अपना अलग राज है। एक बाली सौ बजाए ताली। और बाहर जाकर तो यह अपनी लाली ही लाली दिखाती है. . .इसकी अद्‌भुत वस्तुएँ तैयार होती हैं। [4]
ह्यूमिलिएशन व जलालत की तीखी और उबलती हुई प्रतिक्रिया में आम जन आखिर अपने को उस व्यवस्था के सामने झुका हुआ पाता है। बल्कि उसे दुख होता है कि वह अब तक क्यों इस व्यवस्था को खूंखारता को समझ नहीं पाया था। उपन्यासकार शालीग्राम समस्त परिवेष से परीचित करानें में दक्ष है, परंतु वैयक्तिक भावों को दरकिनार नहीं कर पाया। इस सपाट मनःस्थिति और संवेदनहीनता की तह में जबर्दस्त संवेदनाकूलता है, हाहाकार है, अस्तित्व–संकट का बेचैन और भयावह–बोध है। वह जानता है–प्रेम भी वह नहीं कर सकता क्योंकि उसके भीतर जो गहरी अवसादमथता है। पालतूपन से उसे नफरत है। जहां संबंध धीरे–धीरे बंधनों का, निभाने का और पालतूपन का बोध देने लगे वही संबंध वास्तव में भरने लगते हैं और इसलिए आम जन घिसटते हुए संबंधों की अनिवार्य बिरस परिणीत से मुक्त रहना चाहता है– गाँव के सारे के सारे लोग काइयाँ बने हुए हैं। तब से तो और अधिक जब से मकई की भूफोड़ फसल होने लगी है...'हाय पैसा कि हाय पैसा' ये अपना पेट काट–काटकर एक से दौ बनाने के चक्कर में लगे रहते हैं। इनकी बातों का कोई थाह–ठिकाना नहीं होता–तौल करवाने से लेकर माल के पैसे उगाही तक ये अजीब–सी नौटंकी खड़ा किए रहते हैं...कभी हाथ डंडी पर तौल करवाने की बात करते, तो कभी काँटा खड़ा करवाने को कहते हैं। चन्द तरह की प्रलोभन भरी आकांशाएँ इन्हें स्थिर रहने ही नहीं देती हैं। महाजन तो सगुन के बतौर डंडी की तौल में पासंग का झुकाव चाहेगा ही। और काँटे की तौल में उन्हें ढलता चाहिए। कारण, खलिहान से लेकर आढ़त पहुँचते–पहुँचते माल की घटी–बढ़ी की कोई गारंटी नहीं रहती है। वैसे इसमें घटने की ही आशंका बनी रहती है। अतः इन बातों पर ध्यान नहीं देकर गृहस्थ लोग अधिक से अधिक मुनाफा पाने के पीछे काँय–काँय करते रहते हैं। [5]
वर्तमान जिंदगी में वह अपने को एक ऐसा पत्थर पाता है जिसकी कोई उपयोगिता नहीं है। वह अपनी सपाट, जड़ मानसिकता से मुक्ति पाना चाहता है और उन जुड़ावों को, उस अपनी जीवनी–शक्ति को लौटा लाना चाहता है ताकि वह इस स्थायी नीरसता और सदाबहार एकरसता से छुटकारा पा सके। वह अपनी इस सपाटता से मुक्ति चाहता है जिसके कारण मृत्यु के प्रति भी कोई भयावह बोध उसमें जन्म नहीं लेता। वह संवेदना चाहता है जो प्रतिक्रिया दे, जो तड़प उठे, वह देखकर भी नहीं देखता, रो नहीं सकता, चीख नहीं सकता। उसे अपनी बचपन के जुड़ावों की स्मृति है, आज वह जुड़ावों के लिए अब तरसता है तो वह उनका मूल्य पहचान पाया है।

निश्कर्श

उपन्यासकार शालीग्राम के आम नारी पात्र सामान्य जीवन से परे, ढरें के जीवन की सतह से अलग, दुनिया को लेकर अपने अस्तित्व की उपयोगिता और सार्थकता को लेकर सोचते हैं और इसलिए एक चिन्तात्मक बेचैनी के मन में हमें प्रायः मिलेगी। सोचने की सारी परम्परागत हदों को तोड़कर वे कुछ ज्यादा सोचते हैं मुख्य बात यह है कि यह है कि उनकी अति–चेतनता उन्हें खोखलेपन और बेमानीपन का बोध शीघ्र ही करा देती है। फलतः वे सामान्य लीकों पर चल रहे जीवन के सुख से संतुष्ट नहीं होते, बल्कि उसे तोड़ते हैं और परिणाम स्वरूप प्राप्त समस्त अकेलेपन, अलगाव और टूटन को भोगते हैं।

संदर्भ सूची

1. शालीग्राम 'कित आऊँ कित जाऊँ' पृष्ठ 55।
2. शालीग्राम 'कित आऊँ कित जाऊँ' पृष्ठ 175।
3. शालीग्राम 'कित आऊँ कित जाऊँ' पृष्ठ 20।
4. शालीग्राम 'कित आऊँ कित जाऊँ' पृष्ठ 24।
5. शालीग्राम 'कित आऊँ कित जाऊँ' पृष्ठ 30।